दीनता परमार्थ में अनिवार्य है तथा अहंकार बाधक

प्रत्येक मनुष्य की अपनी प्रथक स्थिति होती है. राजसिक वृत्ति के मनुष्य कभी तामसिक वृत्ति की ओर जाते हैं, कभी सात्विक वृत्ति की ओर. कहने का भाव यह है कि मनुष्य के अन्तर में निरन्तर घटाव - बढ़ाव होता ही रहता है. इससे घबराना नहीं चाहिये. प्रयत्न यहीं होना चाहिये कि साधक जहां खड़ा है, उससे नीचे न गिरे, आगे की ओर बढ़ता जाए. तामसिक वृत्ति से राजसिक वृत्ति की ओर, और इससे आगे सात्त्विक वृत्ति की और चलता जाये. साधक जब नीचे की ओर जाता है तो घबरा जाता है. घबराना नहीं चाहिये. यह तो स्वाभाविक प्रवत्ति है, संस्कारों के कारण मन इधर - उधर भागता है. कभी साधक आकाश में उड़ता है, कभी उसे अपने पैर की पीठ भी नहीं दीखती. मन एक क्षण में क़ाबू में नहीं आ सकता प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्थिति समझनी चाहिये तथा अपने इष्टदेव का आश्रय लेकर आगे की ओर प्रगति करते रहना चाहिये. ऐसा करने से अन्तर में शान्ति रहेगी, नहीं तो मन सर्वदा अकारण ही चंचल तथा दुःखित रहेगा. संत कौन है ? जिस महापुरुष ने अपनी स्थिति को खोकर ईश्वर से एकता प्राप्त कर ली है तथा उस अवस्था में जो निरन्तर एकरस रहता है वह संत है. उसकी दृष्टि भेदरहित होती है. वह अपने में, ईश्वर में तथा औरों में कोई अन्तर नहीं देखता. उसे सदैव ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं होता.

समय पाकर सभी महापुरुषों के सत्संग से लाभ अवश्य होता है, परन्तु ऐसे भी संत होते हैं, तथा हैं, जिनकी क्षण भर की दृष्टि से साधक के आचरण में युगपरिवर्तन आ जाता है. इतिहास बताता है कि जिन मनुष्यों के विषय में कभी यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता था कि उनका कभी सुधार होगा वे संतों के क्षण भर के दर्शनों से भवसागर पार हो गये. संत ज्ञानेश्वर जी ने भैंसों से वेदमंत्रों का शुद्ध उच्चारण करवाया. गुरु हरकिशनदेव जी ने अपने अशिक्षित बाबर्ची से प्रसिद्ध पंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित करवाया. अनेकों ऐसे और उदाहरण हैं. संत चाहें तो अपनी पृथक श्रष्टि बना सकते हैं, परन्तु वे दीनता के स्वरूप होते हैं. प्रभु की मौज को अपनी प्रसनन्ता समझते हैं.

दीनता परमार्थ में अनिवार्य है तथा अहंकार बाधक है. जहाँ दीनता नहीं है वहाँ परमार्थ की उन्नति नहीं हो सकती इसलिए साधक को चाहिये कि वह निरन्तर अपने अंतर को टटोलता रहे कि वह अभिमान की ओर तो नहीं जा रहा है. अपने अहं को सत्संग, विवेक, वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा समाप्त कर देना चाहिये. ' मैं ' और 'मेरे पन ' को ख़त्म करना चाहिये .

वास्तव में ईश्वर की मौज़ में निरन्तर प्रसन्न रहना ही दीनता है. दीन पुरुष अपना कुछ भी नहीं समझता. वह सब कुछ ईश्वर का ही समझता है. इसलिए यदि कुछ प्राप्ति होती है तो उसे हर्ष नहीं होता, वह उसका गर्व नहीं करता. यदि कुछ हानि होती है तो वह अप्रसन्न नहीं होता. वह तो एकरस रहता है. वह सब कुछ ईश्वर का ही समझता है - "कबीर मेरा मुझमें कुछ नहीँ, जो कुछ है सो तोर, तेरा तुझ को सौपंते क्या लागे है मोर ." कबीर साहब अपने आप को कुत्ता कहते हैं . ईश्वर ने उनके गले में रस्सी डाली हुई है, जैसा वह (ईश्वर) खींचता है वैसे ही वह खिंच जाते हैं . " कबीरा कूकर राम की, मुतिया मेरों नांव, गले हमारी जेवरी, जें खींचें तैं जाँव".

परमार्थ का मुख्य ध्येय है कि मनुष्य अपने आप को ईश्वर के चरणों में पूर्णतयः समर्पण कर दे. यह समर्पण मन से होना चाहिये. कथनी तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये. प्रभु की रहस्यमय लीला में सदा प्रसन्न रहना चाहिये, उसमें दोष नहीं देखना चाहिये. वह जो करता है हमारे हित के लिए ही होता है .

राम संदेश : मार्च , १९६८.